समय से संवाद : 10

भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास

समय से संवाद : 10

भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास

सम्पादक

नीरू अग्रवाल

श्रृंखला सम्पादक

किशन कालजयी

अनन्य प्रकाशन

प्रकाशक : **अनन्य प्रकाशन**
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

© लेखकों की ओर से सम्पादक

प्रथम संस्करण : 2015

आईएसबीएन : 978-93-81997-52-9

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक : कॉम्पैक्ट प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

समय से संवाद

एक सच्चे लोकतन्त्र में न तो किसी तरह की सामाजिक गैरबराबरी की जगह हो सकती है और न ही किसी तरह की आर्थिक असुरक्षा की। इन दोनों कसौटियों पर परखें तो अभी हम एक पिछड़े हुए लोकतन्त्र में जी रहे हैं। भारतीय लोकतन्त्र को नियन्त्रित करने वाली समकालीन राजनीति में जिस तरह के नेतृत्व का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि सवा सौ करोड़ की आबादी वाले इस देश में पंचायत से लेकर संसद तक नेतृत्व जिनकी मुट्ठी में है, वे किस वर्ग के हैं और वे सही अर्थों में किनका प्रतिनिधित्व करते हैं? देश के 70 प्रतिशत लोग जो 20 रुपये रोजाना पर गुजर करने के लिए विवश हैं, क्या यह नेतृत्व उनकी भूख, उनकी शिक्षा, उनके स्वास्थ्य और उनके घर के लिए सरोकारी है? इनकी राजनीति में किसानों के संघर्ष और पीड़ा के लिए कितनी जगह है? भारत अभी भी कृषि प्रधान देश है, लेकिन संसद में किसानों के कितने नुमाइन्दे हैं? आखिर कारण क्या है कि सबसे अधिक आत्महत्या किसान ही करते हैं? अब इस देश में जो चुनावी संस्कृति पनपी है उसमें शायद ही कोई किसान विधायक या सांसद बनने का सपना देखता हो। इस देश की अधिकांश आबादी (गरीब) मतदाता बनकर रह सकती है या उपभोक्ता बनकर। इससे ऊपर उसकी कोई हैसियत ही नहीं है।

एक समय था जब राजनीतिक और सामजिक क्षेत्र में नेतृत्व स्वाभाविक तौर पर उभरता था और उसे स्वाभाविक स्वीकृति भी मिल जाती थी। समाज ईमानदारी से अपना नेता चुन लेता था, और नेताओं में भी वे गुण होते थे जो होने चाहिए थे। तब के नेताओं को अपेक्षाकृत निष्ठा, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों की परवाह रहती थी और उनके गम्भीर सामाजिक सरोकार होते थे। जन आन्दोलनों की बात यदि छोड़ दें तो संसदीय राजनीति में अब नेता समाजसेवा और जनसंघर्ष जैसे लम्बे, उबाऊ और थका देने वाले रास्ते से नहीं आते, अब वे राजनीतिक और औद्योगिक घराने से आते हैं या फिर नौकरशाही से।

अभी हाल ही में सम्पन्न हुए दिल्ली विधानसभा चुनाव के अभूतपूर्व नतीजे आये। भारतीय जनता पार्टी के शीर्ष नेतृत्व ने अपने कार्यकर्ताओं और नेताओं की उपेक्षा करते हुए अचानक किरन बेदी को दिल्ली के मुख्यमन्त्री का उम्मीदवार बनाया

था। लेकिन दिल्ली की जनता ने किरन बेदी को कबूल नहीं किया। दिल्ली की जनता का यह फैसला उस राजनीति के लिए एक सबक है जो राजनीति के 'शास्त्र' से बाहर जाकर अपनी मनमानी करती है।

राजनीति की यह मनमानी और अपसंस्कृति मौजूदा लोकतन्त्र का बड़ा संकट है और यही संकट आज के समय का संकट है। इस पुस्तक शृंखला का बुनियादी सरोकार अपने समय से संवाद करना है। समय का तात्पर्य उस सच्चाई से भी है कि बच्चे यदि देश के भविष्य हैं तो बच्चों के लिए शिक्षा और साहित्य का एक उन्नत परिवेश होना चाहिए। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का स्वभाव यदि जनविरोधी हो गया है तो मीडिया की जिम्मेवारी जनपक्षीय होनी चाहिए। दुर्योग यह है कि मीडिया कारपोरेट के चंगुल से निकल नहीं पा रहा है। जाहिर है उसकी प्राथमिकता सत्य की खोज करने और झूठ को ध्वंस करने में नहीं रही, वह कारपोरेट और सत्ता के बीच दलाली के दलदल में फँसता जा रहा है।

पिछले छः वर्षों में 'सबलोग' के माध्यम से हर महीने किसी एक मुद्दे पर पड़ताल होती रही है। 'सबलोग' के पाठकों की यह इच्छा रही है कि 'सबलोग' में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री को पुस्तक रूप में लाया जाए। यह तो उचित नहीं होगा कि 'सबलोग' के तमाम अंकों को पुस्तकाकार किया जाए, लेकिन कुछ सामग्री अत्यन्त स्थायी महत्त्व की और उपयोगी हो सकती हैं। इस प्रकाशन-परियोजना से हमने दस युवा सम्पादकों को जोड़ा जो इस विश्व पुस्तक मेला-2015 के लिए दस पुस्तकों का दृष्टि सम्पन्न सम्पादन कर सकें। यह सिर्फ संयोग है कि ये सभी सम्पादक 'संवेद' और 'सबलोग' से जुड़े रहे हैं। साहित्य, सिनेमा, शिक्षा, मीडिया, दलित राजनीति, आदिवासी साक्षरता, स्त्री-विमर्श, बाल साहित्य, हिन्दी उपन्यास पर सम्पादित पुस्तकों में कई पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें 'संवेद' और सबलोग' का एक भी लेख नहीं है। इसलिए इस पुस्तक शृंखला को सिर्फ 'संवेद' और 'सबलोग' के दायरे में नहीं देखा जाना चाहिए।

जितने कम समय में सभी सम्पादकों ने इन पुस्तकों को तैयार करने में जो मेहनत की है उसके लिए धन्यवाद जैसा औपचारिक शब्द काफी छोटा है। हाँ, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं हो रही है कि ये सभी युवा सम्पादक अपनी-अपनी विधा में सृजनशील प्रतिभा के धनी हैं, किसी प्रकाशन-योजना में इनका एकजुट होना हिन्दी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस 'घटना' को अंजाम देने के लिए प्रकाशक अतुल माहेश्वरी ने जो तत्परता और तैयारी दिखायी है, वह उनकी वैचारिक समझ को रेखांकित करती है और हिन्दी प्रकाशकों की भीड़ से भी उन्हें अलग करती है। समय से यह संवाद यदि पाठकों को पसन्द आया तो यह सिलसिला जारी रहेगा।

(किशन कालजयी)

भूमण्डलीकरण के दौर में

1991 में जब मनमोहन सिंह नरसिम्हा राव की सरकार में वित्त मन्त्री थे, तब से हमने भूमण्डलीकरण को अपनाना शुरू कर दिया था। वैसे तो भूमण्डलीकरण के दौर की शुरुआत 1980 के दशक में हो चुकी थी। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के वर्चस्व के चलते 2008 में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में 1930 के दशक में आई महामंदी जैसा ही भीषण आर्थिक संकट आ गया। भारत में भूमण्डलीकरण की शुरुआत में कुछ ऐसी बड़ी घटनाएँ हुईं, जिन्होंने भूमण्डलीकरण के लिए पीछे का दरवाजा चुपचाप मानों खोल दिया हो। पिछली सदी के आखिरी दशक की शुरुआत में जब यूपीए सरकार में दो बार देश की कमान सम्भालने वाले मनमोहन सिंह (तत्कालीन वित्त मन्त्री) विश्व ग्राम की अवधारणा को अमली जामा पहनाने में जुटे थे, अयोध्या में मन्दिर-मस्जिद विवाद और उसके विवादित ढांचे के ध्वंस ने पूरे देश का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। ये दशक राजनीतिक रूप से भी बहुत उथल-पुथल भरा रहा। सन 2000 आने से पहले के पाँच साल में देशवासियों के हाथ में मोबाइल बजने लगे थे, इंटरनेट से लोगों का जुड़ाव होने लगा था। नयी सदी दरवाजे पर दस्तक देने को तैयार थी। देशवासियों के पास और भी नयी उम्मीदों का भण्डार था, देश में पहली बार भाजपा की अगुवाई वाली सरकार बन चुकी थी। अधेड़ होने की उम्र तक पहुँच चुकी पीढ़ी ने पहली बार अमेरिका को आँखे दिखाते हुए भारत को परमाणु परीक्षण करते देखा था। कुल मिलाकर भूमण्डलीकरण की शुरुआत के साथ-साथ एक राष्ट्रीयता की भावना भी बन रही थी। लेकिन गुजरात के दंगों ने एक बार फिर झटका दिया। रही सही कसर आतंकवाद ने पूरी कर दी। इस बीच सामाजिक असमानता, लड़कियों के साथ यौन हिंसा, भ्रष्टाचार मिलकर देश को खोखला करते रहे और विदेशी पूँजी का प्रवाह होता रहा। प्रेमचन्द के रंगभूमि का सूरदास आपको याद होगा, जो गाँव की जमीन पर उद्योग लगाने का विरोध करता है और बताता है कि किस तरह उद्योग आने से अपसंस्कृति बढ़ेगी और लोक-लाज का क्षय हो जाएगा।

दरअसल, उधार का धन हो या संस्कृति-नुकसान तो पहुँचाते ही हैं। खास कर उस समाज में जहाँ कर्ज लेना कभी श्रेयस्कर नहीं समझा गया, जब ऐसे समाज में पूरी एक पीढ़ी कर्ज के बोझ तले दबी नजर आए, तो कर्ज चुकाने का दबाव पूरे परिवार और कार्य स्थल पर दिखना लाजिमी हो जाता है। आधुनिक से अत्याधुनिक होने की अंधी दौड़ में लोगबाग जिस तरह अंधाधुंध कर्ज ले रहे हैं और ना चुका पाने की स्थिति में तनाव ग्रस्त हो जा रहे हैं, उससे लगता है कि ठहर कर सोचने का वक्त आ गया है। हमारी बचत करने की परम्परागत आदत पीछे छूटती चली जा रही है। पैसे जमा करने वाले गुल्लक की जगह अब वीडियो गेम के रूप में एक अतिरिक्त खर्च आ गया है और डाकखाने में बचत जमा करने की आदत की जगह ईएमआई की स्थाई टेंशन ने ले ली है। आज का इंसान वैश्विक इंसान बन चुका है, भले ही अपनी समग्रता में ठीक से राष्ट्रीय भी नहीं हो पाया हो, लेकिन उसे भी ये एहसास है कि वो विश्व ग्राम का वासी है। भूमण्डलीकरण के बाद सिर्फ व्यवहार ही नहीं बदला, आदत और विचार भी बहुत ही तेजी से बदल रहे हैं तो साहित्य कैसे नहीं बदलता? खासकर उपन्यास।

बदलते हुए यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास एक सुगम माध्यम है। आमतौर पर उपन्यास के बारे में कहा जाता है कि यह सत्य की खोज और असत्य का ध्वंस करने वाला साहित्यिक हथियार है क्योंकि उपन्यास का सम्बन्ध सच, न्याय और जनपक्षधरता से ज्यादा है।

भारत की आजादी की पहली लड़ाई के साथ ही शुरू हुई हिन्दी उपन्यास की यात्रा अपने दूसरे दशक के उत्तरार्द्ध में पहुँचने को है। जब एक राष्ट्र के रूप में भारत खुद को खोज रहा था ठीक उसी समय साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का आविर्भाव हो रहा था। कालक्रमानुसार जैसे-जैसे आजादी की लड़ाई आगे बढ़ती गयी, हिन्दी उपन्यास की यात्रा भी उसी तरह से समाज के साथ या समाज को खुद में समेटते हुए आगे बढ़ती रही। थोड़ी कल्पनाओं के साथ, थोड़े अनुमान के साथ और थोड़ी समाज की मानसिकता को शब्दों में समेटते हुए। इस दौरान हिन्दी की औपन्यासिक यात्रा अनेक स्तरों को छूते और समेटते हुए आगे बढ़ी है। आमतौर पर कविता कल्पना के ज्यादा करीब है इसीलिए उसकी निर्मिति में भाव की भूमिका ज्यादा रही है। जबकि कथा साहित्य के मौखिक रूप का ही अवशिष्ट है। भारत में कथा की परम्परा हजारों साल पुरानी है। वेद, पुराण और उपनिषद भी कथा ही तो कहते हैं। पंचतन्त्र की कहानियाँ और तोता-मैना की कहानियाँ सुनकर लगता है कि यहाँ रंजन और नैतिकता के ही तत्त्व ज्यादा हैं। लेकिन पण्डित रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं कि उपन्यास का कार्य 'मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना' है और उसका आधार 'कल्पना शक्ति' नहीं 'अनुमान शक्ति' है। वे लिखते हैं—''मानव-जीवन

के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का कार्य करता है, यत्न करना है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं। बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है न कि कल्पना।''

आजादी के बाद गंगा और यमुना में काफी पानी बह चुका है। देश और दुनिया काफी बदल चुकी है। बल्कि बदलाव की रफ्तार कुछ इतनी तेज रही कि बदलाव पर नजर ही नहीं ठहर सकी। भूमण्डलीकरण के इस दौर में साहित्य से बदलाव की उम्मीद ना करना बेमानी है। ऐसे में उपन्यास कैसे न बदलता। उपन्यासों में असामान्य हालात पैदा करके चरित्रों को अपने तरीके से ढालने और उनसे मनमाने मन्तव्य निकलवाने की कोशिशें हिन्दी उपन्यासों में होती रही हैं। रानी केतकी की कहानी से जो प्रयोग शुरू हुआ था, वो अब अंजाम तक पहुँच चुका है, ये कहना तो गैरमुनासिब होगा, लेकिन ये कहने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि अब उपन्यास भी राजनीति का पाठ पढ़ा रहे हैं। राजनीति भी उपन्यास का विषय बनने लगी है तो वहीं राजनीतिक हित साधने के लिए भी उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। उपन्यास और राजनीति के सम्बन्ध को लेकर लोगों की धारणाएँ अलग-अलग रही हैं कि इससे लेखक की पक्षधरता स्पष्ट होती है, लेकिन वस्तुतः यह उपन्यास का स्वभाव नहीं है कि उस पर पक्ष या तरीके लागू किये जाएँ। उपन्यास का अविश्वसनीयता से सीधा विरोध होता है।

अब उपन्यास समाज को आईना दिखा रहे हैं। अब उपन्यास घर-घर की कहानी कहते से महसूस होते हैं, जिनसे समाज का हर तबका कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में खुद को सीधे तौर पर जुड़ा हुआ पाता है। लेकिन ये जुड़ाव तो तब महसूस होगा, जब समाज का आम आदमी उसे पढ़ पाए और यही उपन्यास की सीमा के रूप में भी सामने आया है। आज करीब 23-24 साल बाद हम इस कदर भूमण्डलीकरण का शिकार हो चुके हैं कि किसी से टेलीफोन या मोबाइल पर बात करने का समय तक किसी के पास नहीं है। किसी के पास किसी की चिट्ठी का जवाब देने का वक्त तक नहीं है, ऐसे में एक पूरा उपन्यास पढ़ने का समय कौन निकाले? साहित्य के विद्यार्थियों की तो मजबूरी है, लेकिन जिस समाज के लिए लिखने की बात की जाती है, जिस समाज को जागरूक करने की बात की जाती है, क्या वो समाज उस लिखे हुए को पढ़ पाता है?

ऐसे में जब इस बात को खास तौर से रेखांकित किया जाता था कि हिन्दी उपन्यास ने व्यक्ति और समाज, दोनों की चिन्ता की है और उसकी सम्वेदना को कुन्द करने वाली व्यवस्थाओं को उसने पहचाना है, तो इसका लाभ किसे है? क्या उपन्यास ने जिस समाज की चिन्ता की, उस तक उसकी बात पहुँच पाई, या कुछ

बुद्धिजीवियों के बंद कमरे का चक्कलस भर बन कर रह गयी?

जब इस बात पर जोर दिया जाता था कि पहले की तरह उपन्यास केवल चित्रण, वक्तव्य या कथा नहीं है, वह उपन्यासकार का स्वयं अपने साथ, समाज और व्यवस्था के साथ सीधा संवाद है और संघर्ष भी है तो इसका आज के दौर में क्या मतलब है? क्या हमारा साहित्य समाज दो घंटे के लिए (सिनेमा के सन्दर्भ में) पाँच सौ रुपए से ज्यादा खर्च करने वालों में से कुछ लोगों को एक उपन्यास के लिए दो सौ रुपए खर्च करने के लिए आकर्षित कर पाया है?

आज जबकि सोशल मीडिया जनमानस तैयार करने में अहम रोल निभा रहा है, कितने ही उपन्यासकार हैं जो समय के साथ कदमताल करते हुए सोशल मीडिया पर पाठकों से संवाद कर रहे हैं। हिन्दी के कितने उपन्यास हैं जो वेब की दुनिया में पाठकों के लिए मौजूद हैं। हाँ, अपनी सीमाओं के साथ। यहाँ आकर आपको बाजार से रूबरू होना पड़ता है। कल तक समय निकालने पर आप जो उपन्यास मांग कर पढ़ लेते थे, वेब से पढ़ने के लिए आपको पैसे खर्च करने पड़ेंगे। और यही इसकी सीमा भी है और यही इसकी यूएसपी भी। क्योंकि जब आप एक उपन्यास खरीदते हैं तो खुद पढ़ने के बाद कई लोगों से अदला-बदली करके दूसरे उपन्यास भी पढ़ लेते हैं, लेकिन जब आपने एक कोई उपन्यास भुगतान करके अपने मोबाइल में या लैपटॉप में डाउनलोड किया तो वो सिर्फ आपके लिए ही है, उसे आप दूसरों को नहीं दे सकते।

ऐसे में भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास पर चर्चा करते हुए हमें इन बातों पर भी ध्यान देना होगा। आखिर पाठक से ही लेखक का वजूद है। और जब तक सिर्फ सार्थक लेखन पर या जागरूकता भरे लेखन पर जोर रहेगा, तब तक लेखक का तो भला नहीं हो सकता। क्योंकि भूमण्डलीकरण ने सबको एक बाजार के तौर पर देखना सिखा दिया है, और बाजार का अपना सिद्धान्त है। बाजार में वही टिक सकता है, जिसका माल खरा होगा और सरलता से उपलब्ध होगा। क्योंकि खरा माल ही साधारण मानवी को अपनी ओर खींच लेने की ताकत रखता है, अगर सस्ता हो तो कहना ही क्या! यहाँ हमें यह बात भी याद रखनी होगी कि हिन्दी उपन्यास का मुकाबला अब खुद से नहीं है, बल्कि अंग्रेजी उपन्यासों से है।

–नीरू अग्रवाल

अनुक्रम

समय से संवाद	:	*किशन कालजयी*	(*v*)
भूमण्डलीकरण के दौर में	:	*नीरू अग्रवाल*	(*vii*)

सैद्धान्तिकी

भूमण्डलीकरण से उपजा अलगाववाद	:	*सच्चिदानन्द सिन्हा*	13
भूमण्डलीकरण का दौर	:	*आनन्द कुमार*	18
उपन्यास और लोकतन्त्र	:	*मैनेजर पाण्डेय*	32
उपन्यास में स्त्रियाँ और स्त्रियों का उपन्यास	:	*रोहिणी अग्रवाल*	58
स्वराज, भूमण्डलीकरण और सांस्कृतिक संकट	:	*आलोक टंडन*	73

उपन्यास

विरासत की बेदखली	:	*विश्वनाथ त्रिपाठी*	83
हदें पार करने के खतरे	:	*सुरेश पण्डित*	89
कश्मीरियों की जीवन्त व्यथा-कथा	:	*रजनी गुप्त*	100
जन-आन्दोलन और बौद्धिक-कर्म	:	*वैभव सिंह*	103
विपरीत हवा के खिलाफ	:	*अच्युतानन्द मिश्र*	115
हमारे समय का एक बेहद जरूरी उपन्यास	:	*प्रणय कृष्ण*	122
लेखक परिचय			127